

आचार्य रामनाथ वेदालंकार की मन्त्रार्थदृष्टि का स्वरूप

- प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री

आचार्य रामनाथ वेदालंकार वेदभाष्यकारों की उस परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसमें वेद मात्र यज्ञीय कर्मकाण्ड तक सीमित नहीं हैं। आचार्य जैमिनि तथा उनके अनुवर्ती स्कन्द, उद्गीथ, दुर्ग, सायण प्रभृति सभी आचार्य एक स्वर से वेद की उपयोगिता यज्ञ तक मानते रहे हैं। आचार्य जैमिनि ने मन्त्र की अर्थवत्ता सिद्ध करने के लिये जितने प्रमाण दिये हैं, उन सब में यज्ञ निहित है। कहने का आशय यह है कि आचार्य जैमिनि यज्ञ के लिये वेद का अस्तित्व स्वीकार करते हैं और उनके अनुसार यज्ञ का फल अदृष्ट या फिर स्वर्ग की प्राप्ति है। लेकिन आचार्य रामनाथ वेदालंकार उक्त परम्परा पर यद्यपि कोई टिप्पणी नहीं करते, तथापि वे गत २५०० वर्षों से चली आ रही परम्परा का अनुगमन करते हुए भी दिखायी नहीं देते, यह तथ्य सिद्ध करता है कि वे उक्त परम्परा का अनुमोदन नहीं करते हैं।

आचार्य रामनाथ वेदालंकार ने जिस मन्त्रार्थ की परम्परा का अनुगमन किया है, क्या यह उनकी स्व दृष्टि है? या फिर किसी विशिष्ट धारा में रहने के फलस्वरूप यह निर्मित हुई है? निश्चित रूप से उत्तर दिया जा सकता है कि यह उनके चिन्तन का सुफल नहीं है। यह परम्परा उन्हें देव दयानन्द के अनुयायी होने के फलस्वरूप प्राप्त हुई है।

आचार्य रामनाथ वेदालंकार ने वेद और वेदार्थ को समझने के लिये अनेक प्रयास किये, जैसे-सामवेदभाष्य, वैदिक नारी, वैदिकशब्दार्थविचार, वेदों की वर्णनशैलियाँ आदि-आदि। प्रस्तुत आलेख आचार्य रामनाथ वेदालंकार के वैदिकशब्दार्थविचार पुस्तक पर आधारित है। उक्त ग्रन्थ में आचार्यवर ने अनेक शब्दों के अर्थों पर विचार किया है। उन सबको लेना तो सम्भव नहीं है, परन्तु हम यहाँ अज शब्द के अर्थचिन्तन पर विचार करते हुए आचार्य प्रवर की मन्त्रार्थदृष्टि का अन्वेषण करने का प्रयास कर रहे हैं।

अनेकार्थसंग्रह के अनुसार अज का अर्थ है-छाग, वर, विष्णु, रघुपुत्र, विधाता, कामदेव।^१ अमरकोष के अनुसार अर्थ है-विष्णु, हर, छाग।^२ उक्त पद की दो व्युत्पत्ति आचार्य प्रवर देते हैं-

प्रथम-‘न जायते इत्यजः’ कि जो जन्म नहीं लेता, वह अज है। इस पक्ष में न+√जन् से ‘ड’ प्रत्यय^३ होकर अज शब्द व्युत्पन्न होता है।

^१ अनेकार्थसंग्रह ६६.२

^२ अमरकोष ३०.३

द्वितीय-‘अजति गच्छतीत्यजः’ कि जो गमन करता रहता है, वह ‘अज’ है। इस पक्ष में √अज् से पचादि अच् प्रत्यय^१ होकर अज शब्द व्युत्पन्न होता है।

उपर्युक्त दोनों निर्वचनों के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि प्रथम निर्वचन के आधार पर अज शब्द का अर्थ अनादि और अजन्मा है, जबकि द्वितीय व्युत्पत्ति के आधार पर शीघ्रगमन करने के कारण वह अज है। उपर्युक्त व्युत्पत्ति और अर्थ देने के उपरान्त आचार्य रामनाथ वेदालंकार श्वेताश्वतर उपनिषद् में वर्णित प्रहेलिका को प्रस्तुत करते हैं, जिसमें अज शब्द ईश्वर, जीव और प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त है।^२

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां

ब्रह्मीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते

जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥^३

उपर्युक्त मन्त्र की प्रथम एवं द्वितीय पंक्ति में अज पद का स्त्रीलिंग रूप प्रकृति के अर्थ में तथा पुल्लिंग रूप तृतीय पंक्ति में जीव के अर्थ में और चतुर्थ पंक्ति में ईश्वर के अर्थ में प्रयुक्त है।

वैदिक संहिताओं का जहाँ तक प्रश्न है, उनमें यह अज शब्द, पर ब्रह्म, जीव, प्रकृति, सूर्य, वह्नि, पवन आदि अर्थों में प्रयुक्त है।^४ प्रस्तुत आलेख में हम उक्त कतिपय अर्थों के परिप्रेक्ष्य में अज शब्द का परीक्षण करते हुए आचार्य प्रवर की मन्त्रार्थदृष्टि को अन्वेषित करने का प्रयास कर रहे हैं-

परब्रह्म - परब्रह्म अज नाम से अभिहित हुआ है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए आचार्य रामनाथ वेदालंकार कहते हैं कि परमात्मा अजन्मा, सर्वव्यापक, कामादिशत्रुओं अथवा दुर्जनों का प्रक्षेपक होने से अज है।^५ यहाँ आचार्य प्रवर ने अज का परमात्मा अर्थ मानने में दोनों व्युत्पत्तियों का उपयोग किया है। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार पर ब्रह्म अजन्मा तथा द्वितीय व्युत्पत्ति के आधार पर वह सर्वव्यापक, कामादि शत्रुओं अथवा दुर्जनों का प्रक्षेपक सिद्ध होता है। पर ब्रह्म अर्थ की पुष्टि में प्रमाण देते हुए आचार्य कहते हैं-

अचिकित्वाच्चिकितुषश्चिदत्रकवीन्पृच्छामिविद्वानेनविद्वान्।

वियस्तस्तम्भषट्ठिमारजास्यजस्यरूपेकिमर्षिस्विदेकम् ॥ ऋ०१.१६४.६

^१ अष्टा१०१.२.०३

^२ अष्टा०३.१.१३४ नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः।

^३ वैदिकशब्दार्थविचार पृ०१

^४ श्वेता५.०४

^५ वैदिकशब्दार्थविचार पृ०१

^६ वैदिकशब्दार्थविचार पृ०१ अजन्मत्वात्, सर्वगतत्वात्, कामादिरिपूणां दुर्जनानां वा प्रक्षेपकत्वाच्च।

कोई जिज्ञासु पूछता है -(अचिकित्वान्) वस्तुतः तत्त्व कौन जानता हुआ मैं (अत्र) इस विद्वत्सभा में (चिकितुषः) विदितवेदितव्य (कवीन्) विद्वानों से(विद्यने) परमार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिये (पृच्छामि) प्रश्नकर रहा हूँ। (न विद्वान्) मैं विद्वान् नहीं हूँ, जिज्ञासा से प्रेरित होकर प्रश्नकर रहा हूँ, न कि किसी की परीक्षा लेने के लिये। मेरा प्रश्न है (किमपिस्वित्) कि क्या कोई भी (एकम् अजस्य रूपे) एक वस्तु अज के रूप में विद्यमान है? उस अज में क्या वैशिष्ट्य है? सुनो, (यः) जिस अज ने (इमा) इन (षट् रजांसि)लोक रजांसि उच्यन्ते (निरु०४.१९) छः लोक अर्थात् पञ्चभूत, प्रकृति ये सब मिलकर छः। अथवा अग्नि, पृथिवीलोक, वायु, अन्तरिक्षलोक, आदित्य, द्युलोक ये सब मिलकर छः। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और मन ये सब मिलाकर छः। अथवा षट् ऋतुएँ। अथवा तीन प्रकार की भू और द्यु तीन प्रकार, इस प्रकार सब मिलाकर छः लोक होते हैं, मन्त्र भी कहता है कि तीन प्रकार की भूमि और तीन प्रकार के द्युलोक होते हैं-तिस्रो भूमीधारयन् त्रीरुत् द्युन् (ऋ०२.२७.८)। वह अज इन सबको (वि, तस्तम्भ) विशेष करके धारण करता है। अथवा षट् रजांसि का तात्पर्य काम आदि षट् शत्रुओं को जो विशेष रूप से स्तम्भित कर देता है। प्रश्न यह है कि अज कौन है? मन्त्र में वर्णित छाग सामान्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह षट् लोकों को धारण करने में समर्थ है। इसलिये यह जन्मादि के बन्धन से पृथक्परमात्माही है।^१ यहाँ तात्पर्यवृत्ति के आधार पर आचार्य प्रवर ने असामान्य छाग का अर्थ परमात्मा ग्रहण किया है।

महर्षि दयानन्द उपर्युक्त मन्त्र को अग्निप्रयोग से विमानादि यान चलाने के प्रकरण में रखते हैं, उक्त मन्त्र का अर्थ करते हुए वे कहते हैं कि प्रस्तुत मन्त्र में एक अविद्वान् व्यक्ति विद्यावान् से विशिष्ट विद्या को जानने के लिये प्रश्न कर रहा है। उसका प्रश्न है कि जो पृथिवी आदिस्थूल तत्त्वों को इकट्ठा करताहै, क्या वह प्रकृति या जीव के रूप में एक है, इसको तुम कहो। कहने का आशय यह है कि प्रकृति और जीव के साथ परमात्मा एक या उससे भिन्न है।^२ चाहे हम आचार्य प्रवर के अर्थ का अवलोकन करें या फिर दयानन्द के। दोनों ही मन्त्रार्थों में मन्त्र का वक्तव्य गूढ़ है। अध्येता को अज की प्रकृति के आधार पर उसके स्वरूप का निर्धारण स्वयं करना है।

सायण उक्त मन्त्र का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि देवता तत्त्व को न जानता हुआ मैं विशेष रूप से उस तत्त्व को जानने की इच्छा से क्रान्तदर्शी तत्त्ववेत्ता से परमार्थ ज्ञान के लिये पूछता हूँ। यह प्रश्न मैं अज्ञानवश पूछ रहा हूँ। जिस परमेश्वर ने छः लोकों को स्थापित किया है। यद्यपि लोक सात हैं, फिर छः लोकों की चर्चा करने का कारण यह है कि सातवाँ लोक अज अर्थात् जन्मादि के बन्धन से रहित चतुर्मुख ब्रह्म के स्वरूप में स्थित है, वह सामान्य रूप से किसी के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा

^१ वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०१-२

^२ दयानन्दभाष्य, ऋ०.१.१६४.६ पदार्थः-(अचिकित्वान्) अविद्वान् मैं (चित्) भी (अत्र) इस विद्याव्यवहार में (चिकितुषः) अज्ञानरूपी रोग के दूर करनेवाले (कवीन्) पूरी विद्यायुक्त आपविद्वानों को (विद्वान्) विद्यावान् (विद्यने) विशेष जानने के लिये (न) जैसे पूछे वैसे (पृच्छामि) पूछताहूँ, (यः) जो (षट्) छः (इमा) इन (रजांसि) पृथिवी आदिस्थूलतत्त्वोंको (वि, तस्तम्भ) इकट्ठा करताहै (अजस्य) प्रकृति अर्थात् जगत्के कारणवाजीवके (रूपे) रूपमें (किम्) क्या (स्वित्, अपि) ही (एकम्) एकहुआहै, इसको तुम कहो।।६।।

सकता। कुछ विशिष्ट उपासक ही अर्चि आदि मार्ग से उसे प्राप्त करते हैं। अथवा ‘षट् रजांसि’ विलक्षण षट् ऋतुओं को उसने स्तम्भित किया। अज अर्थात् गमनशील या जन्मरहित आदित्य के रूप में दृश्यमान में एकमात्र अद्वितीय कुछ है, जो वाक्, मन आदि से अप्राप्य है, उस तत्त्व के विषय में पूछता हूँ। अथवा ‘षट् रजांसि’ का तात्पर्य है कि जिसने त्रिविध भूलोकों और त्रिविध द्यूलोकों को धारण किया। उस अज परब्रह्म के रूप में नानाविकारों को प्राप्त करने वाला जगत् क्या एक रूप है। नाममात्र अविशेष है, एकरूप है, इस उत्तर की विवक्षा में यह प्रश्न है।^१ यहाँ मन्त्र में सायण जगत् और परमात्मा की एकता का प्रतिपादन मान रहे हैं, यही उनके उत्तर की विवक्षा है।

आचार्य आत्मानन्द उक्त मन्त्र का भाष्य करते हुए कहते हैं-‘न जानता हुआ सम्यक् जानने वाले कवि [प्रौढ विद्वान्] से परोक्षज्ञान के विषय में पूछता हूँ। शास्त्रश्रवणादि करने पर भी मैं परमार्थ रूप से विद्वान् नहीं हूँ। मैं आपकी कृपा से इन काम आदि षट् रजो गुण के विकारों को रोक लूँगा। प्रश्न का कारण यह है कि नित्य आत्मा के रूप में यहाँ एक ही रूप आदरणीय है या अनेक रूप, यह मैं पूछता हूँ। इस विषय में कल्प है-अज्ञानी और अपण्डित मैं कामादि षट् रिपुओं को रोककर पूछता हूँ कि आत्मा एक है या अनेक।^२ आत्मानन्द ने मन्त्र में उत्तर की विवक्षा नहीं मानी है। मन्त्र प्रश्न पर ही समाप्त हो जाता है, जबकि अन्य सभी आचार्य प्रश्न के साथ उत्तर को विवक्षित मान रहे हैं।

- ^१ सायणभाष्य, ऋ०१.१६४.६ (अचिकित्वान्) देवतातत्त्वमजानन्नहं (चिकितुषः) विशेषणतत्त्वजानतः (कवीन्) कान्तदर्शिनः अधिगतपरमार्थान् (अत्र) अस्मिन्तत्त्वविषये (पृच्छामि) किमर्थम्। (विद्वान्) देवनायपरमार्थज्ञानाय। किं जानन्नेवपराभवाद्यर्थनेत्याह। (विद्वान्) (न) पृच्छामि अपितु अज्ञानादेव। (यः) परमेश्वरः (तस्तम्भ) स्तम्भितवान्निमित्तवान्। ‘अथय आत्माससेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय’ (छा.उ.८.४.१) इति श्रुतेः। किम्। (किम्)। (इमा) इमानि (षट्) (रजांसि) लोकात्रज्जनात्मकान्। ‘लोकारजांस्युच्यन्ते’ (निरु.४.१९) इति निरुक्तम्। यद्यपि लोकाः सप्त तथापि सत्यलोकस्य कर्मिणां सर्वेषां साधारणत्वाभावात्षडित्युक्तम्। ननु षडेवोक्ताः सप्तमः किमिति निर्दिष्टः इति। उच्यते। (अजस्य) जननादिरहितस्य चतुर्मुखस्य ब्रह्मणः (रूपे) स्वरूपे (एकम्) सत्यलोकारख्यं पुनरावृत्तिरहितं स्थानं (किमपि) (स्वित्) किंस्विदेव। तन्न केनाप्यधिगन्तुं शक्यमित्यर्थः। कैश्चिदेवोपासकैः अर्चिरादिमार्गेण गन्तव्यत्वात् इति भावः। यद्वा। षड्रजांसिविलक्षणाः षडृतवः। तान्यस्तम्भयत्तत्त्वम्। अजस्य गमनशीलस्य जन्मरहितस्य वा आदित्यस्य रूपे रूप्यमाणे दृश्यमाने मण्डले एकमाद्वितीयं किमपि स्वित्। यत्किंचिद्वाङ्मनसगम्यं तत्त्वमस्ति तत्पृच्छामि। ‘अथय एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते’ (छा.उ.१.६.६) इत्यादि श्रुतिप्रतिपादितं तत्त्वमित्यर्थः। अथवा षडिमानिरजांसि त्रिविधान्भूलोकांश्च यस्तस्तम्भ। ‘तिस्रो भूमीर्धारयन्त्रीरुतद्यन्’ (ऋ.सू.२२७.८) इति निगमः। तस्याजस्य परब्रह्मणो रूपे नानाविकारभाजिजगति किमपि स्वित् देकमेकात्मकमस्तीति प्रश्नः। अविशेषमस्ति नाम मात्रमएकरूपमस्तीत्युत्तरविवक्षया प्रश्नः। ‘अस्तीत्येवोपलब्धव्यम्’ (क.उ.२.६.१३) इति श्रुतेः।।६।।
- ^२ आत्मानन्दभाष्य, ऋ०१.१६४.६ (अचिकित्वान्) अजानन्। (चिकितुषः) सम्यग्जानतः। (चित्) सम्यक् (कवीन्) ज्ञापने प्रौढान् (पृच्छामि)। (विद्वान्) परोक्षज्ञानाय (न) एव विद्वान्। शास्त्रश्रवणादिना (विद्वान्) इव वर्तमानोऽप्यहं परमार्थतो नैव विद्वान्। योऽहं विशेषेण (तस्तम्भ) स्तम्भिष्यामि (इमा) इमानि प्रसिद्धानिकामादीनि (षट्) (रजांसि) मलानिरजोगुणकार्याणि वायुष्मप्रसादात्। प्रश्नकारणमाह। (अजस्य) नित्यस्यात्मनोऽत्र (रूपे) स्वरूपे जगति

आचार्य रामनाथ वेदालंकार की मन्त्रार्थदृष्टि का स्वरूप

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कह सकते हैं कि मन्त्रार्थ में आचार्यों के मतभेद के स्थल निम्न हैं-
अजस्य, एकम्, न, वि तस्तम्भ, विद्वाने, रजांसि।

‘अजस्य’ का तात्पर्य जहाँ दयानन्द प्रकृति या जीव मानते हैं,^१ वहीं रामनाथ वेदालंकार परमात्मा ग्रहण करने के पक्ष में हैं,^२ जबकि आचार्य सायण जननादिरहित चतुर्मुख ब्रह्म के रूप में स्थित सातवाँ लोक लेते हैं^३ पक्ष में गमनशील, जन्मरहित हिरण्यमय पुरुष या फिर आदित्य भी स्वीकार करते हैं^४ और आत्मानन्द नित्य आत्मा मानते हैं।^५ यदि शाब्दिक अर्थ देखा जाए तो कह सकते हैं कि प्रकृति, जीव और परमात्मा ये सभी जन्म नहीं लेते हैं, अतः इनको अज नाम से अभिहित किया जा सकता है। उक्त मन्त्र का देवता विश्वेदेवाः है, यदि हम देवता के आधार पर निर्णय करने का प्रयास करें, तब भी कोई विशेष सहायता मिलती दिखायी नहीं देती।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कह सकते हैं कि आचार्य रामनाथ वेदालंकार ने प्रस्तुत मन्त्र में अज का अर्थ परमात्मा ग्रहण किया है। आचार्य प्रवर आत्मानन्द और सायण को नाम लेकर उद्धृत भी करते हैं, इसलिये यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मन्त्रार्थ में जहाँ उन पर दयानन्द का प्रभाव काम कर रहा है, वहाँ सायण और आत्मानन्द का भी है। दयानन्द के व्याख्यान में परमात्मा का मन्त्र का भाग न होने पर भी प्रश्न के उत्तर से विवक्षित है, जबकि शेष सभी व्याख्याकारों की दृष्टि में यह अज पद का पदार्थ है।

‘एकम्’ का तात्पर्य दयानन्द अजस्य के साथ जोड़कर करते हुए कहते हैं कि क्या जगत् का स्तम्भन करने वाला परमात्मा प्रकृति के रूप में एक हुआ है या फिर जीव के रूप में।^६ रामनाथ वेदालंकार ‘अजस्य रूपे किम् स्वित् एकम्’ क्या कोई एक वस्तु अज अर्थात् परमात्मा के रूप में विद्यमान है?^७ दोनों आचार्यों के अर्थ करने की दिशा भिन्न है। दयानन्द प्रकृति या जीव में समस्त जगत् के कारण परब्रह्म के एकत्व का दर्शन कर रहे हैं, वहीं रामनाथ वेदालंकार अज अर्थात् परमात्मा के साथ किस अन्य की समानता है, का उत्तर ढूँढने का प्रयास कर रहे हैं। यदि हम सायण के भाष्य में इस बात को

(किं)(स्विदेकम्) एवरूपमादरणीयम् (अपि)स्विदनेकमेवरूपमादरणीयमितिसोऽहंपृच्छामि। अत्रकल्पः-अज्ञः पृच्छाम्यहं
तज्ज्ञाः सम्यग्बुद्ध्या अपण्डितः। एको वानेक आत्मेति योऽहं स्तम्भितषड्विपुः।। इति।।६।।

^१ दयानन्दभाष्य, ऋ०१.१६४.६ प्रकृतेर्जीवस्य वा।

^२ वैदिकशब्दार्थविचार पृ०१

^३ सायणभाष्य, ऋ०१.१६४.६ जननादिरहितस्य चतुर्मुखस्य ब्रह्मणः।

^४ सायणभाष्य, ऋ०१.१.६४.६ अजस्य गमनशीलस्य जन्मरहितस्य वा आदित्यस्य रूपे रूप्यमाणे दृश्यमाने मण्डले एकमद्वितीयं किमपि स्वित्। यत्किंचिदवाङ्मनसगम्यं तत्वमस्ति तत्पृच्छामि। ‘अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयपुरुषोः दृश्यते’ (छा.उ.१.६.६) इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितं तत्त्वमित्यर्थः।

^५ आत्मानन्दभाष्य, ऋ०१.१६४.६ नित्यस्याऽऽत्मनः।

^६ दयानन्दभाष्य, ऋ०१.१६४.६

^७ वैदिकशब्दार्थविचार, पृ०१-२

जानने का प्रयास करते हैं तो उनका मत है कि लोक सात हैं, ‘षट् रजांसि’ से मन्त्र ने छः का कथन कर दिया है, शेष एक बचे हुए सत्यलोक का ‘एकम्’ के द्वारा निर्देश किया गया है।^१ आत्मानन्द की दिशा इन सब आचार्यों से भिन्न है, वे कहते हैं कि आत्मा का एक रूप आदरणीय है या अनेक रूप। कहने का आशय यह है कि आत्मा एक है या अनेक। अपने कथन को विवृत करने के लिये वे निम्न वचन उद्धृत करते हैं-

अज्ञः पृच्छाम्यहं तज्ज्ञाः सम्यग्बुद्ध्या अपण्डितः।

एकोवानेकआत्मेतियोऽहंस्तम्भितषट्पुः॥^२

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कह सकते हैं कि जिस प्रकार अज पद का अर्थ अस्पष्ट है, उसी प्रकार एकम् पद का अर्थ भी अस्पष्ट है, इसीकारण भाष्यकारों ने अपने-अपने मन्तव्य के अनुसार अर्थ ग्रहण किया है। इनमें से कौनसा अर्थ मूल के अधिक निकट है, कह पाना सम्भव नहीं है। ‘न’ का अर्थ दयानन्द ‘इव’ ग्रहण करते हैं,^३ वहीं रामनाथ वेदालंकार ‘निषेध’।^४ सायण भी निषेध अर्थ लेते हैं,^५ जबकि आत्मानन्द दयानन्द के समान ‘इव’ अर्थ ग्रहण करने के पक्ष में हैं।^६ हम इस स्थिति को देखकर कह सकते हैं कि शब्द का क्या अर्थ है, यह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, इसके विपरीत भाष्यकार अपनी चिन्तनशक्ति के आधार पर जो अर्थ ग्रहण करना चाहता है, वह अर्थ ग्रहण कर लेता है। इसमें औचित्य और अनौचित्य का प्रश्न उनकी दृष्टि में महत्त्वपूर्ण नहीं है। ऐसी अनिश्चय की स्थिति मन्त्रार्थ की दृष्टि से कितनी उपयोगी है, इस विषय पर पाठक स्वयं विचार करें। ‘न’ एक ऐसा पद है, यदि उसका अर्थ निषेध मान लिया जाए तो मन्त्र का सम्पूर्ण अर्थ ही परिवर्तित हो जाता है। ऐसे पद के विषय में अर्थनिर्धारण का आधार न होना, आगे आने वाले भाष्यकारों को स्वच्छन्द बनाने का मार्ग प्रशस्त करता है।

आचार्य यास्क ने ‘न’ के अर्थ के निर्धारण करने का एक मार्ग दिया है, उसके अनुसार संज्ञा से पूर्व में आने पर यह निषेधार्थक होता है, जबकि पश्चात् आने पर यह उपमार्थक होता है।^७ यदि इस आधार

^१ सायणभाष्य, ऋ०१.१.६४.६ सत्यलोकाख्यं पुनरावृत्तिरहितस्थानम्।

^२ आत्मानन्दभाष्य, ऋ०१.१.६४.६ एकमेव रूपमादरणीयम्, अनेकमेव रूपमादरणीयमितिसोऽहं पृच्छामि।

^३ दयानन्दभाष्य, ऋ०१.१.६४.६

^४ वैदिकशब्दार्थविचार पृ०१-२

^५ सायणभाष्य, ऋ०१.१.६४.६ किं जानन्नेव पराभवाद्यर्थं नेत्याह। पृच्छामि अपि तु अज्ञानादेव।

^६ आत्मानन्दभाष्य, ऋ०१.१.६४.६

^७ निरु०१.४ नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायामुभयमन्वघायं ‘नेन्द्रादेवमंसतेति’ (ऋ०१०.८६.१) प्रतिषेधार्थीयः पुरस्तादुपाचारस्तस्य यप्रतिषेधति। ‘दुर्मदांसो न सुरायाम्’ (ऋ०८.२.१२) इत्युपमार्थीय उपरिष्ठादुपाचारस्तस्य येनोपमिमीते।

पर परीक्षण करें तो आचार्य प्रवर का 'न' का निषेधात्मक अर्थ ग्रहण करना यास्क के मापदण्ड के अनुरूप है।

'वि तस्तम्भ' का दयानन्द ने 'इकट्टा करता है', अर्थ किया है, रामनाथ वेदालंकार ने 'विशेष करके धारण करता है' अर्थ ग्रहण किया है। अथवा षट् रजांसि का तात्पर्य काम आदि षट् शत्रुओं को जो विशेष रूप से स्तम्भित कर देता है, किया है। सायणस्तम्भित [नियमित] किया, यह अर्थ ग्रहण करते हैं।^१ जबकि आत्मानन्द स्तम्भित का अर्थ रोकना करते हैं, यह रोकना कामादि षट् रिपुओं से है।^२ धारण करना, अन्तरिक्ष में स्थापित करना अथवा रोकना अर्थ हो, सभी अर्थ उक्त धातु से ग्रहण किये जा सकते हैं।

'विद्वाने' का अर्थ दयानन्द ने 'विज्ञानाय' किया है,^३ रामनाथ वेदालंकार ने 'परमार्थज्ञानाय' लिया है,^४ सायण 'देवनाय परमार्थज्ञानाय' करते हैं,^५ वहीं आत्मानन्द 'परोक्षज्ञानाय' करते हैं।^६ प्रस्तुत स्थल पर भी रामनाथ वेदालंकार सायण का अनुसरण करते दिखायी देते हैं।

'षट् रजांसि' पद उक्त मन्त्र के सबसे अधिक विवादास्पद पद 'षट् रजांसि' हैं। रामनाथ वेदालंकार ने उक्त पद के व्याख्यान में सबसे अधिक विकल्प प्रस्तुत किये हैं। उक्त पद का अर्थ करते हुए दयानन्द कहते हैं-'पृथिव्यादीनि स्थूलतत्त्वानि'। यहाँ सम्भवतः दयानन्द का मन्तव्य पञ्च महाभूतों से है, लेकिन पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों के साथ वे छठे तत्त्व के रूप में किसे ग्रहण कर रहे हैं, यह अस्पष्ट है। रामनाथ वेदालंकार 'षट् रजांसि' के निम्न छः अर्थ देते हैं-१. लोका रजांसि उच्यन्ते (निरु०४.१९) छः लोक अर्थात् पञ्चभूत, प्रकृति ये सब मिलकर छः, २. अग्नि, पृथिवीलोक, वायु, अन्तरिक्षलोक, आदित्य, द्युलोक ये सब मिलकर छः, ३. पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ये सब मिलाकर छः, ४. षट् ऋतुएँ, ५. तीन प्रकार के भूलोक और तीन प्रकार के द्युलोक, सब मिलाकर छः, इनकी मन्त्र से पुष्टि हो जाती है- तिस्रो भूमीधारयन् त्रीरुत द्युन् (ऋ०२.२७.८), ६. षट् रजांसि का तात्पर्य काम आदि षट् शत्रु।

महर्षि दयानन्द ने 'षट् रजांसि' का अर्थ पृथिव्यादि स्थूलतत्त्वग्रहण किया है, उसको रामनाथ वेदालंकार ने प्रथम ग्रहण किया है और दयानन्द के मन्त्रव्याख्यान में छठे पदार्थ की जो अस्पष्टता रह गयी थी, उसको भी प्रकृति का परिगणन करके स्पष्ट कर दिया है, साथ ही यास्क के प्रमाण से उसे पुष्ट

^१ सायणभाष्य, ऋ०१.१६४.६ स्तम्भितवान् नियमितवान्। 'अथ य आत्मा स सेतुर्विद्युतिरेषां लोकानामसंभेदाय' (छा.उ.८.४.१) इति श्रुतेः।

^२ आत्मानन्दभाष्य, ऋ०१.१६४.६

^३ दयानन्दभाष्य, ऋ०१.१६४.६

^४ वैदिकशब्दार्थविचार पृ०१-२

^५ सायणभाष्य, ऋ०१.१६४.६

^६ आत्मानन्दभाष्य, ऋ०१.१६४.६

किया है। लेकिन यहाँ यह द्रष्टव्य है कि दयानन्द ने पृथिवी आदि स्थूल महाभूत लिये हैं, जबकि रामनाथ वेदालंकार पञ्चभूत अर्थात् सूक्ष्मभूतों का ग्रहण कर रहे हैं। यद्यपि सूक्ष्मता से विचार किया जाए तो दयानन्द का मत अधिक युक्तिसंगत है, क्योंकि लोक का तात्पर्य है-जिसका दर्शन किया जा सके। इस दृष्टि से दयानन्द का मत समीचीन प्रतीत होता है, परन्तु इसको स्वीकार करने में छठा स्थूल तत्त्व कौनसा है, अनुत्तरित रह जाता है। संभवतः इससे प्रेरित होकर रामनाथ वेदालंकार ने ‘षट् रजांसि’ से प्रकृति और पञ्चभूतों (सूक्ष्मभूतों) का ग्रहण किया है।

षट् रजांसि का द्वितीय अर्थ रामनाथ वेदालंकार ने अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक किया है। इन छः तत्त्वों में से तीन (पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक) लोक हैं और तीन उनके अधिष्ठाता (अग्नि, वायु, आदित्य) देवता हैं। यह आचार्य यास्क के ‘तिस्रो देवताः’ का व्याख्यान प्रतीत होता है। इस अर्थ को ग्रहण करने से छः की समस्या का सफलता पूर्वक समाधान हो जाता है, परन्तु क्या अग्नि, वायु और आदित्य को लोक मानकर रजस् पद से ग्रहण किया जा सकता है, यह अवश्य विचारणीय है।

षट् रजांसि का तृतीय अर्थ रामनाथ वेदालंकार ने पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ग्रहण किया है। यदि रजस् पद के मूल अर्थ रञ्जनाद् रजांसि को ध्यान में रखा जाए तो कह सकते हैं कि विषयों से रंग जाने के कारण ये भी रजस् हैं। आचार्य आत्मानन्द ने इसका कुछ संकेत देते हुए कहा है- ‘मलानिरजोगुणकार्याणिवा’। उक्त अर्थ को ग्रहण करने के मूल में यास्क का आख्यातज सिद्धान्त काम कर रहा है, परन्तु उसके अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण से उक्त अर्थ की पुष्टि होती दिखायी नहीं देती। इसलिये यह कहना उपयुक्त प्रतीत होता है कि यौगिक आधार पर अर्थ ग्रहण करने की भी एक सीमा है, उसका उल्लंघन न हो इसका अवश्य ध्यान रखा जाना चाहिये।

षट् रजांसि का चतुर्थ अर्थ रामनाथ वेदालंकार ने षट् ऋतुएँ किया है। आचार्य सायण भी यह अर्थ करते हैं, परन्तु वे इन ऋतुओं को विलक्षण बतलाते हैं।^१ यदि रजस् के रञ्जनपरक अर्थ को ध्यान में रखा जाये तो कह सकते हैं कि ऋतुएँ भी प्रकृति को अपने रंग में रंग देती हैं। लेकिन समस्या वहीं आकर रुकती है कि परम्परा भी क्या ऋतुओं को रजस् नाम से अभिहित करती आयी है? या केवल यौगिक आधार पर अर्थ की संगति लगाते हुए मन्त्रार्थ किया जा सकता है? आधुनिक समीक्षकों को इस विषय में गम्भीर चिन्तन करने के उपरान्त मर्यादा को रेखांकित करना चाहिये।

षट् रजांसि का पञ्चम अर्थ रामनाथ वेदालंकार ने तीन प्रकार के भूलोक और द्युलोक ग्रहण किया है। मन्त्र से भी इस अर्थ की पुष्टि होती है- तिस्रो भूमीधारयन् त्रीरुत्त द्यून् (ऋ०२.२७.८)। आचार्य सायण भी

^१ सायणभाष्य, ऋ०१.१६४.६ यद्वा। षड्रजांसिविलक्षणाः षडृतवः। तान्यस्तम्भयत्तत्त्वम्।

आचार्य रामनाथ वेदालंकार की मन्त्रार्थदृष्टि का स्वरूप

यह अर्थ ग्रहण करते हैं और प्रमाण में उक्त मन्त्र प्रस्तुत करते हैं।^१ मन्त्र से भी तीन भूलोकों और द्यूलोकों की अवधारणा की पुष्टि होती है, परन्तु वे तीन प्रकार कौनसे हैं, यह तथ्य सायण और रामनाथ वेदालंकार के व्याख्यान से स्पष्ट होता हुआ दिखायी नहीं देता है।

षट् रजांसि का षष्ठ अर्थ रामनाथ वेदालंकार ने **षट् रजांसि** का तात्पर्य काम आदि षट् शत्रु लिया है। आचार्य आत्मानन्द ने उक्त सम्पूर्ण सूक्त का अर्थ अध्यात्मपरक किया है, अतः वे भी **षट् रजांसि** का अर्थ कामादि षट् मल अथवा षट् रजोगुण के कार्य करते हैं।^२ रञ्जनकर्म करने के कारण कामादि मलों अथवा शत्रुओं को रजस् कहा जा सकता है।

आचार्य रामनाथ वेदालंकार ने उक्त **षट् रजांसि** पद के छः अर्थ प्रस्तुत किये हैं, उनमें से प्रथम अर्थ आचार्य दयानन्द से ग्रहण किया है, द्वितीय अर्थ निरुक्त के **तिस्र देवताः** से प्रभावित है, तृतीय अर्थ आत्मानन्द के निकट है, चतुर्थ और पञ्चम अर्थ सायण से ग्रहण किया है तथा षष्ठ अर्थ आत्मानन्द के प्रभाव से ग्रहण किया गया है। इस प्रकार **षट् रजांसि** के सभी अर्थ ऐसे किये गये हैं, जिनमें किसी न किसी परम्परा का आश्रय लिया गया है।

रजांसि पद के प्रसंग में जिस स्थिति का दर्शन हो रहा है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भाष्यकार अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप अर्थ ग्रहण कर रहे हैं। यदि इसका निहितार्थ ग्रहण किया जाए तो कह सकते हैं कि सभी ने अपने मन की वृत्ति को मन्त्र पर आरोपित करके अर्थ का सृजन किया है।

यदि उक्त अज पद के सम्बन्ध में विचार करें तो कह सकते हैं कि मन्त्र की दिशा परमात्मपरक है। दयानन्द ने अवश्य अज का तात्पर्य प्रकृति या जीव लिया है, लेकिन उनकी दृष्टि में भी मन्त्र का निहितार्थ परमात्मा के प्रतिपादन में है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि भाष्यकार किसी निश्चित संकेत के आधार पर अर्थ ग्रहण नहीं करते, वरन् अपनी मनःस्थिति के अनुकूल अर्थ ग्रहण करते हैं। यह प्रवृत्ति वेद के पोषण में किस सीमा तक सहायक है, इस पर मनन करने की आवश्यकता है।

आचार्य रामनाथ वेदालंकार अज शब्द के परब्रह्म परक होने में एक अन्य प्रमाण प्रस्तुत करते हैं-

तमिद्गर्भप्रथमदंघ्रापोयत्रदेवाःसमगच्छन्तुविश्वे।

अजस्यनाभावध्येकमर्पितंयस्मिन् विश्वानिभुवनानितस्थुः॥ ऋ०१०.८२.६, यजु०१७.३०

^१ सायणभाष्य, ऋ०१.१६४.६ अथवा षडिमानि रजांसि त्रिविधान् भूलोकांश्च यस्तस्तम्भ। 'तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीरुत द्यून्' (ऋ.सू.२२७.८) इति निगमः।

^२ आत्मानन्दभाष्य, ऋ०१.१६४.६ इमानिप्रसिद्धानिकामादीनिषड्जांसिमलानिरजोगुणकार्याणिवा।

(आपः) आपः अर्थात् व्याप्त। प्रकृतिरूप समत्व को प्राप्त होकर सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों ने (तमित) उसी (गर्भम्) कारणावस्था में निहित तत्त्व को (प्रथमम्) पहले (दध्रे) अपने अन्दर स्थापित किया। (यत्र) जिस गर्भ में (विश्वे देवाः) सभी महद्, अहंकार, पञ्चतन्मात्राप्रभृति (समगच्छन्त) संगत हुए। (एकम्) कारण में एकीभूत उस (अजस्य) जन्मरहित नित्य परमात्मा के (नाभौ अर्पितम्) जैसे नाभि से सम्बद्ध गर्भ होते हैं, उसी प्रकार परमात्मा से सम्बद्ध है, (यस्मिन्) जिस एक रूप में (विश्वानि) समस्त (भुवनानि) भूतजात स्थित होते हैं, यह सर्गविचार है।^१

उपर्युक्त मन्त्र में अजस्य पद आया है, उसका अर्थ करता हुआ महीधर कहता है किजन्मरहित परमेश्वर की नाभिस्थानीय स्वरूप के मध्य में एकविभक्तिक अर्थात् अनन्यभूत बीजरूप कुछ स्थापित किया।^२ महीधर के वक्तव्य को पढ़ने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि परमात्मा की नाभिस्थानीय स्वरूप में किसी ने गर्भ स्थापित किया अर्थात् गर्भ स्थापित करने वाला तत्त्व कोई और है, परन्तु रामनाथ वेदालंकार इस विसंगति से बचते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार गर्भ नाभि से सम्बद्ध होते हैं, उसी प्रकार यह संसार परमात्मा से सम्बद्ध है अर्थात् उसे किसी अन्य ने सम्बद्ध नहीं किया, वह ऋत नियम से सम्बद्ध चला आ रहा है।^३ आचार्य सायण उक्त मन्त्र का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि उसी विश्वकर्मा को सृष्टि से पूर्व आपः ने धारण किया, जहाँ समस्त देव इन्द्रादि संगत होते हैं। उस अज की नाभि में एक अण्डा स्थित है, जिस अण्डे में समस्त भूतजात स्थित होते हैं। अथवा जन्मरहित ब्रह्म की स्वनिर्मित जल में सोते हुए नाभि में समस्त जगत् को बाँधने वाले उदक में एक ब्रह्माण्ड स्थापित किया। इस विषय में मनु का प्रमाण है-सृष्टि के आदि में जल हुआ, उसी में वीर्य गिरा, उससे कोटि सूर्य के समान आभामण्डित सुवर्ण का अण्डा पैदा हुआ।^४

जहाँ रामनाथ वेदालंकार ने आपः का अर्थ प्रकृति किया है, वहाँ सायण जल कर रहे हैं। विश्वे देवाः का अर्थ सायण इन्द्रादि करते हैं, जबकि रामनाथ वेदालंकार महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा आदि

^१ वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०२

^२ यजु१०.१७.अजस्य जन्मरहितस्य परमेश्वरस्य नाभावधि नाभिस्थानीयस्य स्वरूपस्य मध्ये एकविभक्तिमनन्यभूतं किञ्चिद् बीजं गर्भरूपमर्पितं स्थापितम्।

^३ वैदिकपदार्थविचार, ऋ६.८२.०१० अजस्य जन्मरहितस्य परमात्मनः नाभौ अर्पितं, यथा नाभ्या सम्बद्धा गर्भा जायन्ते तथा तेन परमात्मना सम्बद्धमित्यर्थः।

^४ सायणभाष्य, ऋ६.८२.०१०अनयापूर्वमत्रोक्तस्यप्रश्नस्योत्तरमभिधीयते। (तमित) तमेवविश्वकर्माणम् (गर्भम्) गर्भस्थानीयम् (प्रथमम्) इतरसृष्टेः पूर्वम् (आपः) (दध्रे) धृतवत्यः। (यत्र) गर्भे (विश्वे) सर्वे (देवाः) इन्द्रादयः (समगच्छन्त) संगताभवन्ति। तस्य (अजस्य) (नाभावधि) नाभौ। अधीतिसप्तम्यर्थानुवादी। (एकमर्पितम्) इत्यण्डाभिप्रायेणोक्तम्। अण्डं हि प्राक्सर्गाभ्यन्तरेतिष्ठति। (यस्मिन्) अण्डे (विश्वानि) (भुवनानि) सर्वाणिभूतजातानि (तस्युः) तिष्ठन्ति। अथवा। अजस्यजन्मरहितस्यब्रह्मणः स्वसृष्टेजलेशयानस्यनाभौसर्वजगद्धन्धकउदकएकंब्रह्माण्डमर्पितंस्थापितम्। शिष्टंसमानम्। अथास्मिन्नर्थेस्मृति-‘अपएवससर्जादौतासुवीर्यमवाकिरत्। तदण्डमभवद्वैमंसूर्यकोटिसमप्रभम्’(मनु.१.८-९)इति।।६।।

लेने के पक्ष में हैं। उक्त सूक्त का देवता विश्वकर्मा है, अतः सभी भाष्यकारों ने तम् का अर्थ विश्वकर्मा लिया है, परन्तु रामनाथ वेदालंकार तमित् को गर्भ के साथ जोड़कर अर्थ करते हैं। और एक बार भी विश्वकर्मा का नाम नहीं लेते हैं। हम कह सकते हैं कि एक प्रकार से सूक्त के प्रकरण से काटकर मन्त्रार्थ कर रहे हैं। अर्थ में नवीनता अवश्य है, परन्तु देवता की उपेक्षा विचारणीय हो सकती है।

इसके अतिरिक्त यदि दयानन्द की दृष्टि से विचार करें तो आचार्य दयानन्द ने प्रमुख रूप से आपः के दो अर्थ किये हैं-१. उदक. २. प्राण।^१ परन्तु दयानन्द या किसी अन्य भाष्यकार या फिर किसी अन्य स्रोत से आपः का अर्थ प्रकृति सिद्ध होता हुआ दिखायी नहीं देता है। इसी प्रकार विश्वे देवाः का अर्थ महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा भी किसी स्रोत से पुष्ट होता हुआ दिखायी नहीं देता है। भाष्यकार के भाष्य में नवीनता स्वागतयोग्य है, परन्तु केवल यौगिक आधार पर नवीनता को आकार देना विचारणीय हो सकता है।

समु द्रोऽसि विश्वव्यचाअजोऽस्येकपादहिरसि बुध्योऽवागस्यैन्द्रमसि सद्दोऽस्यृतस्य द्वारौ।

मा मा सन्तासमध्वनामध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात्॥ यजु०५.३३

मन्त्र का देवता अग्नि है। परमात्मरूपी अग्नि से प्रार्थना की जा रही है। हे परमात्मन्! (समुद्रोऽसि) उपादानकारण प्रकृति में से जिस निमित्त कारण के द्वारा भूत जगत्बाह्य की ओर आते हैं, या ज्ञान का पारावार होने से तुम समुद्र हो, (विश्वव्यचाः) सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होने से तुम विश्वव्यचा हो, (अजोऽसि) अजन्मा होने से तू अज है, (एकपाद्) तुम्हारे एकपाद में समस्त विश्व समाहित है, मन्त्र कहता है- 'पादोऽस्य विश्वा भू तानि' (ऋ०१०.९०.३), इसलिये तुम एकपाद हो, (अहिरसि) समस्त विद्याओं में व्यापनशील होने से अहि हो, [दयानन्द], हीन नहीं होते हो, इसलिये अहि हो, [महीधर]। (बुध्यः) बुध्य का अर्थ अन्तरिक्ष, मस्तिष्क या हृदय है, अतः इनमें निवास करने से तुम बुध्य हो। अथवा अन्तरिक्ष में रहने वाला मेघ हो अर्थात् मेघ के समान जीवनप्रदाता हो, (वागसि) हे परमात्मन्! तुम वेदवाणी का उपदेश करने से वाक् हो, (ऐन्द्रमसि) इन्द्र अर्थात् जीवात्मा के बल होने से ऐन्द्र हो। (ऋतस्य द्वारौ) हे सत्य के द्वारभूत जीवात्मन् और परमात्मन्! तुम दोनों (मा) मुझे (मा सन्तासम) सन्तप्त मत करो। (अध्वानाम् अध्वपते) हे अध्वपते! सभी के जीवनपथ के रक्षक परमात्मन्! (मा) मुझे (तिर) जीवनमार्ग पर बढ़ाओ। (देवयाने) जिस देवयान के (पथि) मार्ग में सदाचारी विद्वान् जाते हैं, उस मार्ग पर (मे) मेरा (स्वस्ति) कल्याण हो, ऐसी प्रार्थना है।^२

^१ दयानन्दभाष्य, ऋ० १.८.७ जलानि, वाऽऽभुवन्तिशब्दोच्चारणादिव्यवहारान्याभिस्ताआपः प्राणाः।

आपइत्युदकनामसुपठितम्। (निघ०१.१२) आपइतिपदनामसुपठितम्। (निघ०५.३) आभ्यांप्रमाणाभ्यामशब्देनात्रोदकानि सर्वे चेष्टाप्राप्तिनिमित्तत्वात्प्राणाश्चगृह्यन्ते।

^२ वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०३

उपर्युक्त मन्त्र का व्याख्यान महर्षि दयानन्द करते हुए कहते हैं- ‘जैसे परमेश्वर सब प्राणियों का गमनागमन कराने हारे जगत् में व्यापक और अजन्मा है, जिसके एक पाद में विश्व हैवा व्यापनशील तथा अन्तरिक्ष में होने वाला है और वाणी रूप है, परमैश्वर्य्य का स्थान रूप है और सत्य के मुखों को संताप कराने वाला नहीं है। हे धर्म-व्यवहार के मार्गों को पालन करने हारे विद्वानो! वैसे तुम भी संताप न करो। हे ईश्वर! मुझ को धर्म शिल्प के मार्ग से पार कीजिये और मेरे इस विद्वानों के जाने-आने योग्य मार्ग में जैसे सुख हो, वैसा अनुग्रह कीजिये।’^१

उपर्युक्त मन्त्र के व्याख्यान के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द के मार्ग का अनुसरण करते हुए भी आचार्य रामनाथ वेदालंकार ने अनेकशः मौलिकता का परिचय दिया है। जैसे दयानन्दसमुद्र का अर्थ गमनागमन कराने हारा जगत् करते हैं, जबकि रामनाथ वेदालंकार ‘समुद्रवन्ति भूतानि येन निमित्तकारणेन प्रकृत्युपादानात् स समुद्रः ज्ञानपारावारो वा तथाविधः असि।’ उपादानकारण प्रकृति में से जिस निमित्त कारण के द्वारा भूत जगत्बाहर की ओर आते हैं, या ज्ञान का पारावार होने से वह समुद्र है। इसी प्रकार ऋतस्य द्वारौ का अर्थ दयानन्द (ऋतस्य) सत्यस्य कारणस्य व्यवहारस्य वा (द्वारौ) बाह्याभ्यन्तरस्थे मुखे हे धर्म-व्यवहार के मार्गों को पालन करने हारे विद्वानो! करते हैं, जबकि रामनाथ वेदालंकार ‘ऋतस्य सत्यस्य द्वारौ द्वारभूतौ हे परमात्मजीवात्मानौ’ हे सत्य के द्वारभूत जीवात्मन् और परमात्मन्! करते हैं।

आचार्य प्रवर ने क्वचित् मन्त्र के देवता का उल्लेख किया है और क्वचित् मन्त्र के देवता का उल्लेख किया विना ही मन्त्रार्थ किया है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि जहाँ उन्हें मन्त्रार्थ करते समय देवता का प्राधान्य प्रतीत हुआ, वहाँ उन्होंने देवता का उल्लेख किया है और जहाँ देवता गौण है, उसका उल्लेख किये विना भी अर्थ की संगति हो सकती है, वहाँ उसका उल्लेख नहीं किया है। जबकि सिद्धान्त यह है कि विना ऋषि, देवता और छन्द के मन्त्रार्थ नहीं करना चाहिये।^२ आधुनिक भाष्यकारों में महर्षि दयानन्द ने ऋषि, देवता और छन्द देकर प्राचीन परम्परा का अनुगमन किया है। यह उचित प्रतीत होता है कि मन्त्रार्थ करते समय ऋषि और छन्द का उल्लेख भले ही न हो, पर देवता का उल्लेख अवश्य होना चाहिये और मन्त्रार्थ के साथ उसकी संगति भी लगायी जानी चाहिये।

जीवात्मा -

आचार्य रामनाथ वेदालंकार कहते हैं कि अज का एक अर्थ जीव भी होता है। वह उत्पन्न नहीं होता या फिर शरीर में कर्मफल के भोग के लिये गमन करता है या फिर कर्म करता है या शत्रुओं का

^१ दयानन्दभाष्य, यजुर्वेद ५.३३

^२ प्रथमाष्टक, प्रथमाध्याय की भूमिकात्मक कारिका-अर्थज्ञान ऋषिज्ञानं भूयिष्ठमुपकारकम्। वक्ष्यन्त ऋषयस्तस्मात् स्वरूपस्थास्तु देवताः।।

आचार्य रामनाथ वेदालंकार की मन्त्रार्थदृष्टि का स्वरूप

प्रक्षेप करता है, इसलिये जीवात्मा को अज कहते हैं।^१ मन्त्र से जीवात्मापरक अर्थ पुष्ट करने के लिये आचार्यप्रवर निम्न मन्त्र देते हैं-

अजोभागस्तपसातंतपस्वतंतेशोचिस्तपतुतंतैर्अर्चिः।

यास्तेशिवास्तन्वौजातवेदस्ताभिर्वहैनंसु कृतामुलोकम्॥ ऋ०१०.१६.४

उक्त मन्त्र का विनियोग अन्त्येष्टिकर्म में है। जीवितशरीर के दो भाग हैं- १. अज अर्थात् नित्यभाग आत्मा, २. पाञ्चभौतिक देह। अजभागविषय में मन्त्र में प्रार्थना की जा रही है। (जातवेदः) हे जातवेद! प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों को जानने वाले हे परमात्मन्!(अजः भागः) मृत शरीर से निकलकर पुनर्जन्म के लिये जाने वाला मृतक का जीवात्मरूप भाग, (तम्) उसको (तपस्व) पके हुए कर्मफल की प्राप्ति के लिये प्रेषित करो। (ते) तेरी (शोचिः) पवित्र न्याय की शक्ति (तम्) उसको (तपतु) फल के परिपाक के लिये उन्मुख करे, (ते) तेरी (अर्चिः) प्रदीप्त क्रियाशक्ति (तम्) उसको (तपतु) फल के लिये उन्मुख करे। (याः) जो (ते) तेरे (शिवाः) सुख प्रदान करने के (तन्वः) स्वरूप वाले और जो तेरे न्याय करने के गुण-कर्म-स्वभाव हैं, (ताभिः) उनसे (एनम्) इस मृतक जीवात्मा को (सुकृताम्) पुण्यकारी (लोकम्) लोकों को (वह) पहुँचाओ। मन्त्र कहता है-**जीवोमृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्योमर्त्येनास्योनिः॥** (ऋ०१.१६४.३०) **मृतस्य** = मृत शरीर का **अमर्त्यः** = अमरणधर्मा **जीवः** = जीवमर्त्येन = मरणधर्म वाले शरीर से **स्योनिः** = योनिरूपी गृह को प्राप्त होकर **स्वधाभिः** = भोग की इच्छाओं से **चरति** = विचरण करता है।^२

आचार्य उद्गीथ उक्त मन्त्र का अर्थ करते हुए कहते हैं कि उत्पन्न न होने वाला, नित्य, अन्तस् में रहने वाला शरीरेन्द्रियभाग से व्यतिरिक्त जो अज है, अङ्गार के ताप से उस भाग का संस्कार करो, तेरी सुख प्रदान करने वाली मूर्तियाँ इस यजमान को शोभनकर्म करने वाले पितृलोक में ले जायें।^३

उद्गीथ और आचार्यप्रवर के समान सायण भी अज का अर्थ जीवात्मा ही ग्रहण करते हैं और कहते हैं कि जन्म से रहित शरीर-इन्द्रिय आदि भागों से व्यतिरिक्त अन्तस् में रहने वाला जो भाग है, हे अग्ने! अपने ताप से उस भाग को तप्त करो, उसी प्रकार तुम्हारी शोककारक ज्वालाविशेष उस भाग को भी तप्त करे। इसके अतिरिक्त तेरी प्रदीप्त होने वाली ज्वालाविशेष उसको भी तप्त करे। तप्त, शोचिः,

^१ वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०३ न जायते नित्यत्वाद्, अजति गच्छति शरीराणि कर्मफलभोगाय, अजति कर्माणि करोतीति वा, शत्रून् प्रक्षिपतीति वा।

^२ वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०३

^३ उद्गीथभाष्य, ऋ०१०.१६.४ (अजः) अनुत्पत्तिधर्मकः नित्यः अन्तरपुरुषलक्षणः (भागः) शरीरेन्द्रियादिभागस्य व्यतिरिक्तः (तम्) भागम् (तपसा) सन्तापेनाऽङ्गारगतेन (तपस्व) सन्तापय संस्कुर्वित्यर्थः (तम्) तम् एव भागम् (ते) तव (शिवाः) सुखाः ह्लादिन्यः (तन्वः) मूर्त्यः (ताभिः) तनुभिः (वह) प्रापय (एनम्) यजमानम् (सुकृताम्) शोभनकर्मकारिणां पितृणाम् (लोकम्) स्थानम्। सुकृताम् एव लोकम् (उ) उ इति एवार्थं सुकृताम् एव लोकम्।

अर्चिः शब्दों में संताप के तारतम्य का भेद है। हे जातवेद! तेरी जो मूर्तियाँ हैं, वे सुख की हेतु हैं, न कि तापप्रदान करने वाली, उन मूर्तियों से प्रेत (मृतात्मा)को शोभनकर्म करने वाले स्थान में ले जाओ।^१

उपर्युक्त आचार्यत्रय के मन्त्रार्थ पर दृष्टिपात करने पर स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ उद्गीथ और सायण तपसा, तपतु, तपस्व आदि पदों का अर्थ ताप से तप्त करना मान रहे हैं, वहीं आचार्य प्रवर जीवात्मा को परिपक्व फल को प्राप्त कराने के लिये उन्मुख करने की बात कर रहे हैं। जब जीवात्मा शरीर से बाहर निकल चुका है, उस समय उसे अङ्गार पर रखें या शीतल हिम पर, उसे न तो उससे कष्ट होता है और न सुख। इसलिये उद्गीथ और सायण की मन्त्रार्थ की दिशा प्रेतपरक होते हुए भी मरणोत्तर जीवन की प्रतीति नहीं कराती हैं, जबकि मन्त्र का उद्देश्य मरणोत्तर जीवन की दिशा में आगे बढ़ने का है।

आचार्य प्रवर अज पद के जीवात्मा अर्थ की दृष्टि से एक और उदाहरण देते हैं-

आनयैतमा रभस्व सुकृता लोकमपि गच्छतु प्रजानन् ।

तीर्त्वा तमासि बहु धा महान्त्यजो नाकमाक्रमतां तृतीयम् ॥ १ ॥ (अथर्व०९.५.१)

इस मन्त्र का देवता अज है। सायण इस मन्त्र का विनियोग बताते हुए कहते हैं कि पञ्चौदन नाम के यज्ञ में आहुति दिये जाते हुए जीवित और मारित अज की इस सूक्त में प्रशंसा की गयी है। इस प्रकार लाया गया अज उक्त प्रकार से मारे जाने और संस्कृत किये जाने पर इन्द्र को तृप्त करके तृतीय नाक नाम के स्वर्ग में अथवा सुकृत पुण्यलोक में जाता है।^२ आचार्य प्रवर इस विनियोग पर अपनी प्रतिक्रिया देते हुए कहते हैं कि आश्चर्य है कि छाग पशु के अग्नि में आहुति दिये जाने पर स्वर्ग गमन मान लिया गया है, यह कितना विचित्र मार्ग है। वस्तुतः, अज यहाँ जीवात्मा है, जो अनादि और अनश्वर है, तीसरा नाक मोक्षलोक है, जिसके लिये कहा गया है-

यत्र देवा अमृतमानशानास्तु तीये धामन्नध्यैरयन्ता। (यजु०३२.१०)।

उक्त मन्त्र का अर्थ है-(एतम्) इस अज=अजन्मा नित्य, देहविशिष्ट मोक्ष की कामना करने वाली जीवात्मा को ज्ञानकर्मयोग के स्थल पर (आनयत) लाओ, हे अज=जीवात्मन् (आरभस्व) ज्ञानकर्मयोग को प्रारम्भ करो। (अजः) यह अज जीवात्मा जीवित रहकर (प्रजानन्) शुभ ज्ञान और कर्म के संग्रह को जानता हुआ (सुकृताम्) पुण्यशाली लोगों के (लोकम्) मोक्षलोक को (अपि) भी (गच्छतु) प्राप्त हो। यह

^१ सायणभाष्य, ऋ०१०.१६.४ (अजः) जननरहितः शरीरेन्द्रियादि भागव्यतिरिक्तोऽन्तरपुरुषलक्षणोयः (भागः) अस्ति हे अग्नेतेत्वदीयेन (तपसा) तापनेन (तम्) तादृशभागम् (तपस्व) तप्तं कुरु। तथा (ते) तव (शोचिः) शोकहेतुः ज्वालाविशेषः (तम्) भागम् (तपतु) संस्करोतु। अपिच (ते) तव (अर्चिः) भासकोज्वालाविशेषः (तम्) भागंतपतुसंस्करोतु। तपः शोचिरर्चिः शब्दानांसंतापतारतम्येनभेदः। हे (जातवेदः) (ते) तव (याः) (तन्वः) मूर्तयः (शिवाः) सुखहेतवोनतुतापप्रदाः (ताभिः) (एनम्) तनूभिः प्रेतम् (सुकृताम्) शोभनकर्म-कारिणाम् (लोकम्) स्थानम् (बह) प्रापय। उशब्दः पूरणः।।

^२ सायणभाष्य, अथर्व०९.५.१ अस्मिन् सूक्ते पञ्चौदने नाम संवे ह्यमानस्याजस्य जीवतो मारितस्य च प्रशंसा। आपराजिताया आनीयमानोऽजः प्रोक्तप्रकारेण हतः संस्कृतश्च इन्द्रं तर्पयित्वा तृतीयनाके नाम स्वर्गभागे यद्वा सुकृतां पुण्यलोके गच्छति।

आचार्य रामनाथ वेदालंकार की मन्त्रार्थदृष्टि का स्वरूप

अज जीवात्मा (बहुधा) बहुत प्रकार से (महान्ति) गहन (तमांसि) अज्ञान-मोहादि अन्धकारों को (तीर्त्वा) पार करके (तृतीयम्) तीसरे (नाकम्) ब्रह्मानन्दस्वरूप मोक्ष में (आक्रमताम्) आरूढ हो। भौतिक सुख प्रथम नाक है, अध्यात्मसुख द्वितीय नाक है और मोक्षसुख तृतीय नाक है।^१

आचार्य प्रवर ने जो अर्थ प्रस्तुत किया है, वह न केवल युक्तिसंगत है, अपितु वेद के सिद्धान्तों से भी मेल खाता है। महर्षि दयानन्दतृतीये धामन् का 'तृतीये=जीवप्रकृतिभ्यां विलक्षणे धामनि=आधारभूते' अर्थ करते हैं।^२ जीव और प्रकृति से विलक्षण केवल जगदीश्वर है, दयानन्द की दृष्टि में वही तृतीय धाम है। आचार्य प्रवर रामनाथ वेदालंकार भी इसी मत का अनुसरण करते हुए दिखायी देते हैं। इस प्रकार दयानन्द की दृष्टि का अनुसरण करते हुए मन्त्रार्थ करना आचार्य प्रवर की मन्त्रार्थदृष्टि का आधारभूत अवलम्ब है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि दयानन्द की दृष्टि का अवलम्बन करने में क्या नवीनता है? दयानन्द ने जो संकेत दिये हैं, उनको स्पष्ट रूप से विवृत करने में आचार्य प्रवर का योगदान है।

आदित्य -

अज के परमात्मा और जीवात्मा अर्थ का प्रतिपादन करने के उपरान्त आचार्य प्रवर अज का आदित्य अर्थ देते हैं। निरन्तर अपनी धुरी पर गमन करने या अन्धकार का निवारण करने से आदित्य को अज कहते हैं। निम्नलिखित मन्त्र से अज का आदित्य अर्थ स्पष्ट होता है-

यः श्वेताँ अधिनिर्णिजश्चक्रे कृष्णाँ अनुव्रता।

सधामपू व्यर्ममेयस्कम्भेन विरोदसी अजोनद्यामधारयन्नभन्तामन्यकेसमे ॥ (ऋ०८.४१.१०)

उक्त मन्त्र का देवता वरुण है। यास्क ने 'वरुणो वृणोतीति सतः' सत् का वरण करने से वरुण है, कहा है। महर्षि दयानन्द ने 'यः सर्वान्दिशान्मुमुक्षुन्वृणोति, अथवायः शिष्टैर्मुमुभिर्धर्मात्मभिर्त्रियते वर्यते वा स वरुणः परमेश्वरः, अथवा वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः' यह निर्वचन किया है।^३ जो वरुण परमेश्वर (व्रता) व्रतों अर्थात् कर्मों को (अनु) कर्म के अनुकूल (अधिनिर्णिजः) अधिगत रूपों को [निर्णिक यह रूपवाचक नाम है (निरु०३.७)] (श्वेतान) दिवस में पदार्थों को श्वेतप्रभा वाला (कृष्णान) रात्रि में कृष्णवर्ण का (चक्रे) करता है, वह वरुण (स्कम्भेन) जैसे कोई दण्ड से जैसे (पूर्वम् धाम) अन्तरिक्ष (रोदसी) द्यावापृथिवी को (विममे) मापता है। मन्त्र कहता है-मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण। (ऋ०५.८५.५) अन्तरिक्ष में स्थित होता हुआ वरुण जैसे कोई दण्ड से नापता है, जैसे पृथिवी और सूर्य को मापता है। इसके अतिरिक्त वह (अजो न) आदित्य के समान (द्याम) द्युलोक को (अधारयत) धारण

^१ वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०४

^२ दयानन्दभाष्य, यजु१०.०३२

^३ सत्यार्थप्रकाश प्रथमसमुल्लास

करता है। वही वरुण हमारा अनुशास्ता हो, जिससे (अन्यके) अन्य कामक्रोधादि (समे) सभी शत्रु (नभन्ताम) नष्ट हो जायें।^१

आचार्य सायण उक्त मन्त्र का व्याख्यान कुछ भिन्न रूप में करते हुए कहते हैं- ‘जो वरुण अपनी रश्मियों को दिन में श्वेत तथा रात्रि में कृष्णवर्ण का कर लेता है, वह वरुण कर्मों को लक्ष्य बनाकर कर्म के अनुरूप अन्तरिक्ष और द्युलोक को माप लेता है। इसके अतिरिक्त वह स्कम्भ अर्थात् अन्तरिक्ष के द्वारा जैसे आदित्य द्युलोक को धारण करता है, उसी प्रकार वह द्यावापृथिवी को धारण करता है।’^२

आचार्य सायण ने स्कम्भेन का अर्थ अन्तरिक्षेण किया है, जबकि आचार्य प्रवर मानेनेव करते हैं। इसके अतिरिक्त नभन्तामन्यके समे मन्त्रांश के व्याख्यान में मतभेद है। आचार्य यास्क ने नभन्तामन्यके समे मन्त्रांश का व्याख्यान मा भूवन्नन्यके सर्वैकिया है।^३ तदनुसार नभन्ताम् का अर्थ होगामा भूवन्, अन्यके पद को यद्यपि यास्क ने स्पष्ट नहीं किया है, परन्तु निरुक्तवृत्तिकार स्कन्द अन्यके कुत्सिता अस्मद् द्विषः अर्थ करते हैं।^४ जबकि आचार्य प्रवर ने अन्यके का अर्थ कामक्रोधाद्याः शत्रवः किया है। नभन्ताम् का अर्थ आचार्य प्रवर हिंस्यन्ताम् करते हैं, यह यास्क से अनुमोदित अर्थ नहीं है, परन्तु निरुक्तवृत्तिकार स्कन्द नभ धातु का यास्क प्रतिपादित अर्थ तो बताते ही हैं, साथ में उसका हिंसा अर्थ भी प्रतिपादित करते हैं।^५

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य प्रवर ने प्रकरण के अनुरूप अर्थ की संगति लगायी है। इसके साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अज का अर्थ आदित्य भी होता है।

आदित्य अर्थ की पुष्टि में एक और मन्त्र प्रस्तुत करते हुए आचार्य रामनाथ वेदालंकार कहते हैं-

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रैः

तेन देवा देवतामग्रं आयंस्तेन रोहान् रुरुहु मर्ध्यासः।। अथर्व०४.१४.१

(अजः) आदित्य (अग्नेः) अग्नि के (शोकात्) ताप से (अजनिष्ट) उत्पन्न हुआ। अग्निप्रधान होने से यह अग्नि से उत्पन्न हुआ है। (सः) उसने (अग्ने) सम्मुख (जनितारम) उत्पादक परमेश्वर को (अपश्यत्) देखा। (तेन) उस अज [आदित्य] के प्रकाश से प्रकाशमान (देवाः) सोम, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक, पृथिवी

^१ वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०५

^२ सायणभाष्य, ऋ०८.४१.१० (यः)वरुणः (निर्णिजः)आत्मीयात्रशमीन्दिवा (श्वेतान्)(अधि)(चक्रे)अधिकरोतितथारात्रौ (कृष्णान्)चक्रे (सः)वरुणः (अनु)(व्रता)कर्माणिलक्षीकृत्योभयविधकर्मानुगुणं (पूर्व्यम्)(धाम)अन्तरिक्षंदिवंवा (ममे)निर्ममे। अपिच (यः)(स्कम्भेन)अन्तरिक्षेण (अजो)(न)यथाआदित्यः (धाम)धारयतितथा (रोदसी)द्यावापृथिव्यौ (वि)(अधारयत्)विधारयतिसवरुणइत्यर्थः।

^३ निरु५.०१०

^४ स्कन्दवृत्ति, निरु०१०.५

^५ स्कन्दवृत्ति, निरु०१०.५ नभन्तां न भवन्तु माभूवन्नित्यर्थः। नभतीति वधकर्मसु पाठात्। नभन्तां हन्यन्ताम्।

आदि ग्रहोपग्रह (अग्ने) आदि से ही (देवताम्) देवत्व अर्थात् दीप्यमानत्व को (आयन) प्राप्त हुए। (मेध्यासः) पूज्य जगत् यज्ञ के सम्पादन करने वाले देव दीप्यमान ग्रह-उपग्रह (तेन) उस आदित्य से आकृष्ट हुए अपनी-अपनी परिधि में स्थित रहते हुए (रोहान) गगनमण्डल में (रुरुहुः) आरोहण करते हैं।^१

निस्सन्देह उपर्युक्त मन्त्र में भी अज पद आदित्य अर्थ में प्रयुक्त है।

अज एकपात् -

अज एकपाद् निरुक्त में द्युस्थानी देवताओं में परिगणित है। निरुक्त में निर्वचन है-अज एकपात्। अजनः एकः पादः। एकेन पादेन पातीति वा। एकेन पादेन पिबतीति वा। एकोऽस्य पाद इति वा। (निरु०१२.२९) आदित्य को ही अज एकपाद् कहा जाता है, क्योंकि वही भ्रमरक के समान घूमता हुआ अपनी धुरी पर भ्रमण करता है। जैसे कोई दो या चार पादों से चलता है, उस प्रकार सूर्य नहीं चलता है। अथवा जो गतिमान होकर एक ही रश्मिसमूह से सभी की रक्षा करता है अथवा एक ही रश्मिजाल से रसों का पान करता है, इसलिये सूर्य को अज एकपाद् कहा जाता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण कहता है-अज एकपादुदगात् पुरस्तात् तं सूर्यं देवमजमेकपादम् (तै.ब्रा.३.१.२.८)। परमेश्वर को भी अज एकपाद् कहा जाता है, क्योंकि यह कभी भी उत्पन्न नहीं होता, इसका एक पाद जगत् में है, मन्त्र कहता है-पादोऽस्य विश्वाभू तानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ (ऋ०१०.९०.३)। वायु को भी अज एकपाद् कहा जाता है, यद्यपि निरुक्त में इसका परिगणन मध्यस्थानी देवताओं में नहीं किया गया है। अज का अर्थ वेगशील, आकाश में एकपाद पर स्थित है, गोपथ-ब्राह्मण कहता है-वायुरेकपात् तस्याकाशं पादः। (गो.ब्रा.२.९)। कुछ आचार्य अज एकपाद् का तात्पर्य चन्द्रमा या मेघ से लेते हैं। अनेक देवता वाली ऋचा में अज एकपाद् का प्रयोग देखिये-

शं नो अज एकपाद्देवो अस्तु शं नोऽहिर्बु ध्यः शं समुद्रः। (ऋ०७.३५.१३)

आचार्य प्रवर ने जो अज एकपाद् के अर्थ बताये हैं, उसकी पुष्टि में मन्त्र का प्रमाण नहीं दिया है। अतः मन्त्र की पुष्टि के अभाव में उक्त अर्थ अज एकपाद् के हैं, यह नहीं कहा जा सकता।

अग्नि -

अग्नि भी अज है, इस सम्बन्ध में आचार्य प्रवर महीधर को उद्धृत करते हुए कहते हैं-अजति आहवनीयरूपेण यज्ञप्रदेशे गच्छतीत्यजः। (महीधरभाष्य, यजु०५.३३)। उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि में निम्न ऋचा है-

अजमनज्मि पर्यसा घृ तेन दिव्यं सुपर्णं पर्यसं बृ हन्तम्।

तेन गोष्म सुकृ तस्य लोकं स्वरा रोहन्तो अभि नाकमुत्तमम्।। अथर्व०४.१४.६

^१ वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०५

मैं (दिव्यम्) देदीप्यमान (सुपर्णम्) शोभन ज्वालारूप पक्ष से युक्त (पयसम्) वृष्टि करने वाले (बृहन्तम्) महान् (अजम्) यज्ञ के अग्नि को (पयसा) पयस् के विकार (घृतेन) घृत से (अनज्मि) प्रज्वलित करता हूँ। (तेन) उसके द्वारा हम लोग (सुकृतस्य) पुण्य के फलस्वरूप (लोकम्) लोक को (गोष्म) जायें। इसी बात को कहा जा रहा है कि (स्वः) आनन्दस्वरूप परमेश्वर को (आरोहन्तः) आरूढ होकर प्राप्त करते हुए (उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) सुखमय उत्कृष्टतम मोक्ष को (अभि गोष्म) प्राप्त हों। यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, इसकी पुष्टि उक्त सूक्त के मन्त्र से हो जाती है-

स्वर्यन्तोनापेक्षन्तऽआद्या०रौहन्तिरोदसी।

यज्ञयेविश्वतोधारा सुविद्वा०सोवितेनिरे।। यजु०१७.६८।

अजर्मनज्मि मन्त्र में अज पद आत्मपरक रूप में भी व्याख्यान किया जा सकता है। (अजम्) जीवात्मा को मैं (पयसा) माधुर्य (घृतेन) दिव्य आनन्द के रस और तेज से (अनज्मि) प्रकाशित करता हूँ।^१

उक्त सूक्त के अजो ह्यग्नेरजनिष्ट (अथर्व०४.१४.६) मन्त्र को आचार्य प्रवर ने अज पद के आदित्य अर्थ के प्रसंग में व्याख्यान किया है। उक्त सूक्त का देवता अग्नि और आज्य है। इस दृष्टि से देखे जाने पर अज को यज्ञाग्नि मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है, परन्तु उसी स्थान पर अज का अर्थ आदित्य करना विचारणीय हो सकता है। केवल संगति लगा देने भर से कोई अर्थ मन्त्र का वास्तविक अर्थ नहीं माना जा सकता। उसकी संगति सम्पूर्ण सूक्त के तद्देवताक मन्त्रों में लगनी चाहिये, तभी कोई अर्थ ऋषि का अभीष्ट हो सकता है।

पूष्णो वाहनाः -

पूषन् देवता का वाहन भी अज है। निघण्टु १.१५ में अजाः पूष्णः कहा है। अज के उक्त अर्थ के समर्थन में निम्न प्रमाण द्रष्टव्य है-

आतेरथस्यपूषन्नजाधुराववृत्युः।

विश्वस्यार्थिनःसखासनोजानपच्युतः॥ ऋ०१०.२६.८

(पूषन्) हे पूषन्! हे परिपुष्ट जीवात्मन्! (ते) तेरी (रथस्य) शरीररथ की (धुरम्) धुर को (अजाः) गतिशील प्राण (ववृत्युः) आवर्तन करते हैं। (त्वम्) तुम (विश्वस्य) सब (अर्थिनः) याचक के (सखा) अभिलषित शक्ति के प्रदान करने वाले होने से मित्र के समान (सनोजाः) सनातन और (अनपच्युतः) अपराजित हो। अथवा (पूषन्) हे पूषन्! सब ओर से परिपुष्ट परमात्मन्! (ते) तेरी (रथस्य) ब्रह्माण्ड रूपी

^१ वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०७

शकट की (धुरम) धुरा (अजाः) जन्म न लेने वाले अजन्मा जीव या गतिशील अग्नि-वायु-जल-विद्युत्-पर्जन्य-भूमि-सूर्य आदि (ववृत्युः) वहन करते हैं।^१ शेष पूर्ववत्। यह अध्यात्मपरक अर्थ है।

(पूषन्) हे पूषन्! हे सूर्य! 'अथ यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत्पूषा भवति' (निरु०१२.१८) जो रश्मियों से पोषण करता है, इसलिये सूर्य का नाम पूषा है। ब्राह्मण कहता है- 'असौ वै पूषा योऽसौ (सूर्यः) तपति' (कौ.ब्रा.५.२, गो.ब्रा.१.२०) जो सूर्य तपता है, वह सूर्य पूषा है। (ते) तेरे (रथस्य) रथ के (धुरम) धुर को (अजाः) गतिशील रश्मियाँ (ववृत्युः) वहन करती हैं। मन्त्र कहता है- 'उदु त्यंजातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृ शो विश्वायसूर्यं ऌम्॥' (ऋ०१.५०.१)। शेष अर्थ समान है। ब्राह्मण वायु को भी पूषा कहते हैं- 'अयं वै पूषा योऽयं (वातः) पवते। एष हीदं सर्वं पुष्यति' (श.ब्रा.१४.२.१.९)। सूर्य के समान वायु के पक्ष में भी मन्त्र का अर्थ घटित किया जा सकता है।^२

छागः -

जिस प्रकार लोक में अज शब्द छाग का वाचक है, उसी प्रकार वेद में भी। इसका निर्वचन है- 'अजति गच्छति गृह्णाति द्वौ पादावुपरि कृत्वा वृक्षशाखादिकम् इत्यजः छागः' यह दो पैर ऊपर करके वृक्ष शाखा आदि को पकड़ लेता है, इसलिये छाग को अज कहते हैं। छाग अर्थ के समर्थन में निम्न ऋचा द्रष्टव्य है-

दीर्घह्यङ्कुशं यथा शक्तिं बिभर्षि मन्तुमः।

पूर्वेण मघवन पदाजो वयां यथा यमो देवी

जनित्र्यजीजनद् भद्राजनित्र्यजीजनत्॥ ऋ०१०.१३४.६

उक्त मन्त्र का देवता इन्द्र है। सेनापति को उद्धोधन दिया जा रहा है। (मन्तुमः) हे सैन्यविद्या में निष्णात सेनाध्यक्ष! तुम (यथा) जैसे (दीर्घम) विस्तृत (अङ्कुशम्) अङ्कुश को (बिभर्षि) धारण करते हो वैसे (शक्तिम्) शत्रु को पराजित करने वाले बल को भी धारण करो। अन्यथा शक्तिरहित अंकुश से क्या लाभ? (मघवन) हे मघवन! शस्त्रादिविद्या के वैभव से सम्पन्न! (यथा) जैसे (अजः) छाग (पूर्वेण) देह के पूर्वभाग में विद्यमान (पदा) पैरों से (वयाम्) शाखा को [वयाः शाखाः वेतेः, वातायना भवन्ति, निरु०१.४] आकर्षित करता है, वैसे (यमः) शत्रुओं को नियन्त्रित करो। तुमको (देवी) दिव्य (जनित्री) माता ने (अजीजनत्) उत्पन्न किया है, (भद्रा) कल्याणकारिणी (जनित्री) माता ने (अजीजनत्) उत्पन्न

^१ वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०७-८

^२ वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०८-०७

किया है, इसलिये तुम शत्रुओं पर नियन्त्रण करो।^१ उक्त मन्त्र का व्याख्यान करते हुए आचार्य सायण ने भी अज का अर्थ छाग ही लिया है।^२ योद्धा -

योद्धाओं को भी अज कहा जाता है। इस पक्ष में निर्वचन होगा-‘अजन्ति गच्छन्ति शत्रून् प्रति, यद्वा अजन्ति प्रक्षिपन्ति शस्त्रास्त्राणि ते’ कि शत्रुओं के प्रति युद्ध के लिये गमन करते हैं अथवा शस्त्रास्त्रों का प्रक्षेपण करते हैं, इसलिये योद्धाओं को अज कहा जाता है। इसके समर्थन में ऋचा है-

आवदिन्द्रायमुनातृत्सवश्चप्रात्रभेदं सर्वतातामुषायत।

अजासंश्चशिग्रवोयक्षवश्चबलिंशीर्षाणिजभ्रुरश्यानि।।१९।।

इन्द्र सेनाध्यक्ष का नाम है। यास्क निर्वचन करते हैं-‘इदञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा’ (निरु०१०.८) यह इन्द्र शत्रुओं का विदारण करने वाला या फिर शत्रुओं को युद्धक्षेत्र से भगा देने वाला है। (यमुना) शत्रुओं पर नियन्त्रण करने में समर्थ होने के कारण सेना यमुना है, वह सेना(इन्द्रम)सेनाध्यक्षकी ओर (आवत) जाती है, (तृत्सवः) हिंसक अन्य वीर भी सेनाध्यक्ष को प्राप्त होते हैं, उसके पश्चात् (अत्र) इस (सर्वताता) युद्ध में वह इन्द्र (भेदम) विदारक शत्रु को (प्र मुषायत) अच्छी प्रकार हनन करता है। (अजासः) शस्त्रास्त्र प्रक्षेपक, (शिग्रवः) अव्यक्त शब्द करने वाले (यक्षवः) युद्ध में भिड़ने वाले योद्धा युद्ध में (अश्यानि) अश्व सम्बन्धी (शीर्षाणि) शिरों को (बलिम्) बलि को (जभ्रुः) लाते हैं।^३

आचार्य दयानन्द ने उक्त मन्त्र का अर्थ निम्न किया है-जो शस्त्र और अस्त्रों के छोड़ने, सांकेतिक बोली बोलने और संग करने वानियम करने और मारने वाले जन इस राज्य पालन रूपी यज्ञ में भोगने योग्य पदार्थ और बड़ों के इन शिरों को धारण करते हैं और जो विदीर्ण करने वा एक एक से तोड़-फोड़ करने को चुराता छिपाता है वा जोप रमैश्वर्यवान् की रक्षा करे, वे सब श्रेष्ठ हैं।^४

आचार्य प्रवर कहते हैं कि मैंने तृत्सवः, अजासः, शिग्रवः, यक्षवः शब्दों के यौगिक अर्थ महर्षि दयानन्द के भाष्य से ग्रहण किये हैं। सायण ने उक्त पदों के अर्थ जनपदविशेष अर्थ में स्वीकार किये

^१ वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०८

^२ सायणभाष्य, ऋ०१०.१३४.६ (दीर्घम्) आयतम् (अङ्कुशम्) सुणिं (यथा) (बिभर्षि) एवमायताम् (शक्तिम्) हे (मन्तुमः)। मन्तुर्ज्ञानम्। तद्धन्। मतुवसोरुः इति संबुद्धौ नकारस्यरुत्वम्। ईदृशेन्द्र (बिभर्षि) धारयसि। ‘डुभृञ्धारणपोषणयोः’। जौहोत्यादिकः। श्लौ‘भृजामित्’इत्यभ्यासस्येत्वम्। हे (मघवन) धनवन्निन्द्र (यथा) (पूर्वेण) देहस्यपूर्वभागेवर्तमानेन (पदा) पादेन (अजः) छागः (वयाम्) शाखांमाकर्षिततथापूर्वोक्तयाशक्त्याकृष्य (यमः) शत्रून्प्रियच्छसि। यमेल्लट्यडागमः। ‘बहुलंछन्दसि’इतिशपोलुक्। गतमन्यत्।।६।।

^३ वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०९

^४ दयानन्दभाष्य, ऋ०७.१८.१९

हैं।^१ इस स्पष्टोक्ति के आधार पर कहा जा सकता है कि उक्त मन्त्रका अर्थ आचार्य प्रवर ने दयानन्द से प्रभावित होकर किया है, परन्तु फिर भी दो पद ऐसे हैं, जो दयानन्द के मत से भिन्न हैं-**बलिम्** और **अश्व्यानि**। जहाँ दयानन्द ने **बलिम्** का अर्थ **भोग्यं पदार्थम्** किया है, वहीं **अश्व्यानि** का **महतामिमानी** किया है। जबकि आचार्य प्रवर **अश्व्यानि** का **अश्वसम्बन्धीनि** तथा **बलिम्** का **बलि** अर्थ करते हैं। यदि दयानन्द भी उक्त दोनों पदों के अर्थ आचार्य प्रवर के अनुसार करते, तब मन्त्रार्थ की संगति में **अश्व्यानि** के लोकप्रचलित अर्थ को परिवर्तित करने की आवश्यकता न होती।

मन्त्रार्थ की सार्थकता का आधार संगति को माना जाए या फिर मन्त्र की आत्मा की सहज अभिव्यक्ति को? निस्सन्देह प्रत्येक विचारशील व्यक्ति यही कहेगा कि संगति मन्त्रार्थ की सफलता का आधार नहीं हो सकती। यह संगति विद्योत्तमा के प्रश्नों के उत्तर में दिखाये गये मौन कालिदास के संकेतों में भी विद्वत्समाज ने स्थापित करके दिखा दी थी, इससे विद्योत्तमा को तो निरुत्तर किया जा सकता है, परन्तु सत्य को स्थापित नहीं किया जा सकता।

प्रश्न यह नहीं है कि किसने कितना सुन्दर अर्थ मन्त्र में से निकाल कर दिखा दिया, यह एक कौतुक भी हो सकता है। यह धरा वेद के साथ होते हुए खिलवाड़ की साक्षी बनी है, एक युग आया जैमिनि ने अपने विद्या के बल से वेद की दिशा को यज्ञ की ओर परावर्तित कर दिया और एक दूसरे युग के फिर हम साक्षी बने, जब देव दयानन्द ने अपने विद्या कौशल से जैमिनि और उनकी परम्परा के अनुगमन करने वाले स्कन्द से लेकर सायण, मुद्गल पर्यन्त अनुसरण की जाने वाली मन्त्रार्थशैली की दिशा को एक दूसरे कोण की ओर मोड़ दिया। आचार्य प्रवर रामनाथ वेदालंकार दूसरी धारा से प्रभावित होकर मन्त्रार्थ कर रहे हैं। परन्तु प्रश्न अब भी अनुत्तरित नहीं, अपितु अस्पष्ट है कि जो अर्थ किया जा रहा है, वह वेद का स्वाभाविक और वास्तविक अर्थ है। यास्क के आख्यातज सिद्धान्त को आगे रखकर उसका यौगिक नामकरण करते हुए जो मन्त्रार्थ सृष्टि की जा रही है, वह परम्परा से कितना अनुमोदन प्राप्त कर सकी है, यह अभी अनुसन्धान का विषय है, विना अन्वेषण के देवता आदि की उपेक्षा करते हुए नवीन देवता का गठन करके मन्त्रार्थ करना स्वाभाविक और वास्तविक किस सीमा तक कहा जा सकता है, इसका उत्तर आगे आने वाला समय देगा। हमारे पास जो भी संसाधन हैं, वे सभी दोनों परम्पराओं कानिश्चयात्मक रूप से पोषण करने में समर्थ नहीं हैं। फिर भी आज हम यह कह सकने की स्थिति में हैं कि कम से कम से सायण ने जिस धारा में बहकर मन्त्रार्थ किया, वह मन्त्र का स्वाभाविक अर्थ नहीं है। वेद को यज्ञ तक सीमित कर देना ऋषियों की प्रतिभा पर प्रश्नचिह्न लगाने से कम नहीं है।

अज पद के दो निर्वचन प्राप्त होते हैं, एक में न+√जन् तथा दूसरी √अज् से। ऐसा प्रतीत होता है कि ये दो निर्वचन यह सूचित करते हैं कि अज पद दो मूलों से चला आ रहा है, इसलिये एक अज पद

^१ वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०९

यदि ईश्वर, जीव या प्रकृति वाचक है तो दूसरा अज पशु का वाचक है। ब्राह्मणग्रन्थ बहुमत से द्वितीय पक्ष के साथ खड़े दिखायी देते हैं, इसी प्रकार लोकमत भी दूसरे पक्ष का अनुगामी है, जबकि प्रथम मत विशेष रूप से वेद में देखने को मिलता है, यद्यपि वेद में नित्य सत्ता और पशु ये दोनों अर्थ पाये जाते हैं। इस विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि वैदिक साहित्य (संहिता) में ये दोनों विद्यमान थे, परन्तु लोकयात्रा में प्रथम अर्थ तिरोहित सा हो गया।

उक्त निष्कर्ष के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मन्त्रार्थ करते समय हमें एक ही मन्त्र में अज के दोनों अर्थ नहीं ग्रहण करने चाहिये। मन्त्र का तात्पर्य या तो नित्य सत्ता के अर्थ में होगा या फिर पशु के अर्थ में। नित्य और अनित्य का संयोजन युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता, क्योंकि मन्त्र की विवक्षा दोनों में से किसी एक में होगी।

जहाँ तक आचार्य प्रवर रामनाथ वेदालंकार की मन्त्रार्थदृष्टि का प्रश्न है, वह निस्सन्देह युक्तिसंगत, तर्क से पोषित, रस से परिपूर्ण, नवीनता से ओतप्रोत, देव दयानन्द के कार्य को आगे बढ़ाने वाली और उस पथ को और अधिक प्रशस्त करने वाली है। आचार्य प्रवर के मन्त्रार्थ का अध्ययन करते हुए यह देखा गया है कि आपने महीधर, सायण, आत्मानन्द और दयानन्द के साथ विदेशी भाष्यकार ग्रिफिथ आदि के वेद व्याख्यानों का गहन अध्ययन किया है और उसकी छाप मन्त्रार्थ पर देखने को मिलती है। यद्यपि दिशा देव दयानन्द की है, परन्तु उपेक्षा अन्य की भी नहीं। जहाँ से जो भी उपादेय मिला, उसको आप निस्संकोच ग्रहण करते चले गये। आचार्य प्रवर की शैली के विषय में यह उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है कि आपने अन्वय की संगति बैठाने के लिये पंक्ति का अतिक्रमण नहीं किया है। अन्वय की संगति पंक्ति में स्थित पदों के आधार पर की गयी है, न कि दूसरी पंक्ति के पदों को जोड़कर। यदि यौगिक प्रक्रिया के साथ परम्परा का अनुमोदन भी किया गया होता तो यह एक अनुपम मन्त्रार्थदृष्टि हो सकती थी।

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री

निदेशक, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान

गुरुकुल काँगाड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार